

औपनिवेशिक भारत में मानव अधिकारों के लिए आन्दोलन

सारांश

मानव अधिकार मौलिक और सक्राम्य हैं, जो हमारी प्रकृति में निहित हैं। ये नैसर्गिक हैं और इनकी व्याख्या और निर्माण विधायिका से भी परे है। मानवाधिकारों का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना सभ्यता का। शोषक और शोषित सभ्यता के दो अंग सदैव से ही रहे हैं उसी प्रकार मानवाधिकारों का शोषण और उनके लिए आन्दोलन सदैव ही रहा है। औपनिवेशिक भारत में भारतीयों द्वारा मानवाधिकारों के लिए लगातार संघर्ष चलता रहा। यह संघर्ष अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, जीने का अधिकार, अवसर की समानता, मौलिक आवश्यकताओं का अधिकार, प्रेस की स्वतन्त्रता आदि रूपों में दिखाई पड़ता है। प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए पूरे समय संघर्ष चलता रहा। कांग्रेस सहित स्वतन्त्रता आन्दोलन में लगे अलग-अलग संगठनों द्वारा समय-समय पर मानवाधिकारों के लिए आन्दोलन किये गये। विधायिका के अन्दर भी भारतीयों ने मानवाधिकारों के लिए लगातार संघर्ष किया। इन अधिकारों के संघर्ष का परिणाम भारतीय संविधान में मूर्तरूप पाता दिखाई देता है। इस शोध-पत्र में, औपनिवेशिक काल में भारतीयों द्वारा मानवाधिकारों के लिए किये गये संघर्ष का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास है।

मुख्य शब्द : औपनिवेशिक, सार्वभौमिक, नैसर्गिक, विधायिका प्रस्तावना

स्थूल रूप से मानव अधिकार वह मौलिक एवं अन्य संक्राम्य अधिकार हैं जो मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक हैं। मानव अधिकार वह अधिकार हैं जो प्रत्येक मानव के हैं केवल इसलिए कि वह मानव है चाहे वह किसी भी राष्ट्रीयता, प्रजाति या नस्ल, धर्म, लिंग का हो। अतः मानव अधिकार वह हैं जो हमारी प्रकृति में निहित हैं और उनके बिना हम सभ्य जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। मानव अधिकार मनुष्य की एक ऐसे जीवन की ओर बढ़ती हुई माँग पर आधारित हैं जिसमें मानव की अन्तर्निहित गरिमा एवं गुण का सम्मान हो तथा उसे संरक्षण प्रदान किया जाये। मानव अधिकार नैसर्गिक हैं जिनका निर्माण किसी विधायनी द्वारा नहीं किया जा सकता है। ये संशोधन की प्रक्रिया से परे हैं। मानव अधिकार की अवधारणा यद्यपि आज बहुत लोकप्रिय विषय है परन्तु यह कोई नवीन चिन्तन नहीं है वरन् इसका इतिहास बहुत प्राचीन और महान है। इसके इतिहास में मैग्नाकार्टा (1215), अधिकारों की घोषणा (1627), अधिकारों का अधिनियम (1688), मानव और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा (1791) और अमेरिका के बिल ऑफ राइट्स (1787) आदि मुख्य पड़ाव गिनाये जा सकते हैं, तब जाकर 1948 ई0 की संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को वास्तविक स्वरूप प्राप्त हुआ।

भारत में क्या विश्व की सभी प्रमुख सभ्यताओं में मानव अधिकारों के तत्व उपस्थित रहे हैं। औपनिवेशिक भारत में साम्राज्यवादियों ने अपने शासन की सुरक्षा के लिए मानव अधिकारों का लगातार दमन करने का प्रयास किया। भारत में जैसे-जैसे राजनैतिक चेतना का विकास होता गया वैसे-वैसे ही मानव अधिकारों की माँग और उसके लिए आन्दोलन आगे बढ़ता गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भारत की स्वतन्त्रता के संघर्ष का एक महत्वपूर्ण भाग मानव अधिकारों की स्थापना बन गया। प्रस्तुत शोधपत्र में स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान मानव अधिकारों के विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास है।

औपनिवेशिक काल में भारतीय समाचार-पत्रों का इतिहास उनकी स्वतन्त्रता के अनवरत प्रयास का इतिहास है। जिस अनुपात में भारतीय राष्ट्रवाद का विकास हुआ उसी अनुपात में भारतीय समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर ब्रिटिश सरकार के आक्रमणों में वृद्धि होती गयी। 1799 ई0 में प्रेस पर सेंसर लगा दिया गया। 1823 ई0 में प्रेस अध्यादेश द्वारा प्रेस के लिए लाइसेन्स अनिवार्य कर दिया गया। इसके विरुद्ध राजाराम मोहन राय, चन्द्रशेखर कुमार टैगोर, द्वारिकानाथ टैगोर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, हीराचन्द्र घोष एवं गौरी चरण बनर्जी आदि के द्वारा भारत के इतिहास की पहली नागरिक-राजनैतिक अर्जी सर्वोच्च न्यायालय में दर्ज की गयी।¹ सर्वोच्च



मनबीर सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
मिहिर भोज कॉलेज,
दादरी गौतमबुद्धनगर,
(उ0प्र0)

न्यायालय में न्याय न मिलने पर ब्रिटिश क्राउन के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किया गया। इस अर्जी में इस कानून को अजनतान्त्रिक, असमायोजित और दकियासूनी कहा। मिस सोफिया कौलेट ने इसे भारतीय इतिहास का "एरिओपोजेटिका" कहा। आर.सी. दत्त ने लिखा— "राजनैतिक अधिकारों के वैधानिक संघर्ष का जो रास्ता आज इतना जनप्रिय है उसकी शुरुआत इसी प्रतिवेदन से होती है।" और यह प्रतिरोध मेटकाफ के प्रेस कानून 1835 ई० तक चलता रहा।

1857ई० के बाद फिर प्रेस की स्वतन्त्रता को कम करने या समाप्त करने का प्रयास किया गया। 1857ई० का प्रेस एक्ट तथा 1867ई० का प्रेस एक्ट एण्ड रजिस्ट्रेशन ऑफ बुक्स एक्ट इसी प्रकार के प्रयास थे। 1870ई० में भारतीय दण्ड संहिता में धारा 124 (अ) जोड़ी गयी जिसमें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध लिखने पर कठोर सजा का प्रावधान किया गया। 1898ई० में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124ए में संशोधन करके धारा 153ए जोड़ी गयी जो और कठोर हो गयी। इसी प्रकार लार्ड लिटन का वर्नाकूलर प्रेस एक्ट 1878 लागू हुआ। इस कानून में प्रावधान किया गया कि "अगर सरकार समझती है कि कोई अखबार राजविद्रोहात्मक सामग्री छाप रहा है या उसने सरकारी चेतावनी का उल्लंघन किया है तो सरकार उस अखबार, उसके प्रेस व अन्य सामग्री का जब्त कर सकती है।"² भारतीयों ने इस कानून का जमकर विरोध किया। किसी सार्वजनिक मुद्दे को लेकर यह पहला बड़ा विद्रोह प्रदर्शन था। इसके विरोध में एस.एन. बनर्जी और फिरोजशाह मेहता ने आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। अंग्रेजी भाषा में कई पत्र हिन्दू पैट्रियाट, दि ट्रिब्यून, दि हिन्दू, बंगवासी और मराठा का प्रकाशन आरम्भ हुआ और प्रेस की सफलता के लिए एक घोर प्रयत्न के बाद प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए वातावरण तैयार हुआ। 1881ई० में लार्ड रिपन के समय में इसे वापस ले लिया गया।

भारतीयों में उठती राष्ट्रचेतना की भावना को रौंदने के लिए 1908ई० एवं 1910 ई० में इण्डियन प्रेस एक्ट पारित किये गये। "1910ई० का इण्डियन प्रेस एक्ट भारतीय समाचार-पत्रों के विरुद्ध अंग्रेजी सरकार की अब तक कठोरतम कार्यवाही था।"³ इस एक्ट तथा अन्य एक्ट्स के विरुद्ध लम्बे तथा कड़े जन आन्दोलन के बाद 1922ई० में प्रेस लॉ रिपील एण्ड एमेडमेन्ट एक्ट पारित हुआ जिसमें ये पुराने एक्ट्स हट गये तथा अन्य से कठोर धाराओं को हल्का कर दिया गया।

प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए बहुत से बड़े स्वतन्त्रता सेनानियों को जेल हुई तथा अन्य सजायें काटनी पड़ी। प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए पहली बार जेल जाने वाले भारतीय एस.एन. बनर्जी थे।⁴ अदालत की मानहानि के इस मुकदमें में जूरी के भारतीय सदस्य जज रमेश चन्द ने सजा का विरोध किया। दो महीने की सजा हुई। सजा की सूचना पर सारा भारत आन्दोलित हो उठा। उच्च न्यायालय के समक्ष आन्दोलन किया गया। देशभर में इसके विरोध में सभाओं का आयोजन किया गया। दूसरे बड़े नेता जिनको प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए जेल तथा दूसरी सजाओं की यातना उठानी पड़ी बाल गंगाधर तिलक थे। तिलक नागरिक अधिकारों के बड़े हिमायती थे। वो कहा करते थे "प्रेस की

आजादी और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता राष्ट्र को जन्म देते हैं और इससे राष्ट्र मजबूत बनता है।" अपने पत्र मराठा और केसरी के माध्यम से जनता के मौलिक अधिकारों का जोरदार समर्थन करते थे। प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए 15 जून 1897 ई० में केसरी में छपे तथाकथित आपत्तिजनक लेख के कारण 27 जुलाई 1897ई० में गिरफ्तार कर लिये गये। मुकदमे का निर्णय 6-3 से तिलक के विरुद्ध गया। परन्तु तीनों भारतीय जजों की राय में तिलक अपराधी नहीं थे। 18 महीने की कठोर सजा हुई। राष्ट्रीय अखबार और राजनीतिक संगठनों ने गिरफ्तारी के विरुद्ध मानव अधिकारों के हनन और प्रेस की स्वतन्त्रता पर हुए हमले के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन छेड़ दिया। 1908ई० में तिलक को पुनः राजद्रोही लेखों के प्रकाशन के आरोप में पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। जूरी के दो भारतीय सदस्यों की आपत्ति के बावजूद तिलक को दोषी ठहरा दिया गया। तिलक की सजा सुनते ही मानव अधिकारों और प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए देशव्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। "मुम्बई की सभी आठ कपड़ा मिलों तथा रेल मजदूरों ने 6 दिन तक हड़ताल रखी।"⁵ राष्ट्रीय आन्दोलन के नायक महात्मा गाँधी को भी प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए जेल जाना पड़ा। 1922ई० में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 126ए के तहत मुकदमा चलाया गया और 6 साल की सजा सुनाई गयी।

राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू से ही नागरिक अधिकारों की मांग कर रहा था जिससे भारतीयों में मानव अधिकारों के प्रति रुझान बढ़ा। प्रेस की आजादी, अभिव्यक्ति तथा संगठन बनाने की स्वतन्त्रता तथा अन्य नागरिक अधिकारों पर औपनिवेशिक नियमों, कानूनों और अधिकारों के हमले का सदैव विरोध करते थे जिससे भारत में मानवाधिकारों का विकास होने में सहयोग मिला। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1918ई० के मुम्बई के विशेष अधिवेशन में मानव अधिकारों की घोषणा को स्वीकारा गया जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन के संचालन जातीय भेदभाव के बिना आदि सम्मिलित थे।⁶ 1925ई० में कांग्रेस ने मानव अधिकारों की नवीन घोषणा को स्वीकार किया जिसमें मुक्त प्राथमिक शिक्षा, लिंग के आधार पर समानता, धर्म के मानने और प्रसार की स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित किये गये थे।⁷ सन् 1928 में स्पष्ट तौर पर नेहरू रिपोर्ट में मानव अधिकारों को सम्मिलित किया गया। लिंग के आधार पर समानता, धर्म के मानने और मनाने, मुक्त प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ सम्पत्ति के अधिकार के मुद्दे को स्थान मिला।⁸

गाँधीजी नागरिक अधिकारों के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध थे। गाँधीजी के अनुसार "अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि अगर इससे चोट भी पहुंचे तब भी इसे छीना नहीं जा सकता, प्रेस की आजादी का सचमुच सम्मान नहीं हो पा रहा है, यह तभी कहा जा सकता है जब प्रेस को कठोर से कठोर आलोचना करने तथा असत्य प्रस्तुतीकरण का भी अधिकार हो.....। संगठन की स्वतन्त्रता का वास्तविक सम्मान तब माना जाना चाहिए जब लोगों के समूह क्रान्तिकारी योजनाओं के विषय में भी चर्चा कर सकते हों।"⁹ गाँधीजी का मत है कि "नागरिक अधिकार राजनैतिक और सामाजिक जीवन की जान है, स्वतन्त्रता की नींव है इसमें अपमिश्रण या समझौते के लिए कोई स्थान नहीं है। यह जीवन के लिए सर्वाधिक आवश्यक जल है। मैंने पानी में

किसी भी तरह ही मिलावट की बात कभी नहीं सुनी।¹⁰ गाँधीजी इन अधिकारों को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करने की बात कहते हैं। गाँधीजी ने एक अवसर पर कहा कि "सरकार ने देश के सामने जो मुद्दा पैदा कर दिया है उसकी तुलना में स्वराज, खिलाफत और पंजाब का सवाल गौण है। हम अपने लक्ष्य की तरफ एक कदम भी बढ़ सकें, इसके लिए स्वतन्त्र अभिव्यक्ति और संगठन के अधिकार को हमें हासिल करना होगा.... हमें इन अधिकारों की रक्षा जान देकर भी करनी चाहिए।"¹¹

कराँची अधिवेशन 1931ई0 में कांग्रेस के इतिहास में मौलिक अधिकारों और राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रमों से सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये गये। प्रस्ताव में अभिव्यक्ति की आजादी, प्रेस की आजादी, संगठन बनाने की आजादी, जाति, लिंग, धर्म आदि से भिन्न कानून के समकक्ष समानता का अधिकार, सभी धर्मों के प्रति राज्य का तटस्थ भाव, सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर चुनाव और स्वतन्त्रता तथा मुफ्त आरम्भिक शिक्षा को सम्मिलित किया गया। प्रस्ताव में लगान और मालगुजारी में उचित कटौती, अलाभकर जोतों से लगान से मुक्ति, किसानों को कर्ज से राहत, मजदूरों के लिए बेहतर सेवा शर्तें, काम के नियम, महिला मजदूरों की सुरक्षा, मजदूरों-कृषकों को अपने संगठन बनाने की आजादी आदि का वादा किया गया।¹²

जवाहर लाल नेहरू नागरिक स्वतन्त्रता के सबसे बड़े हिमायती थे।¹³ 1931ई0 का नागरिक अधिकारों के प्रस्ताव के सृजक नेहरू ही थे। उनका मत था कि "जब नागरिकों के अधिकारों का दमन होता है तो राष्ट्र की तेजस्विता समाप्त हो जाती है और वह कोई भी ठोस काम करने लायक नहीं रह जाता।" मार्च 1940ई0 में उन्होंने कहा था— "प्रेस की आजादी का मतलब यह नहीं है कि जो चीज हम छपी हुई देखना चाहते हैं उन्हीं की अनुमति दे, इस तरह की आजादी से तो कोई अत्याचारी भी सहमत हो जायेगा, नागरिक स्वतन्त्रताओं और प्रेस की आजादी का मतलब है जो चीजें न चाहें उनकी भी अनुमति दें, अपनी आलोचना भी बरदाश्त करें।"¹⁴ 1936 ई0 में नेहरू के अथक प्रयासों से इण्डियन सिविल लिबरटीज यूनियन की स्थापना हुई। यह एक गैर दलीय, असाम्प्रदायिक संगठन था। रवीन्द्रनाथ टैगोर अध्यक्ष, सरोजनी नायडू कार्यकारी अध्यक्ष, के.बी. मेनन महासचिव और नेहरू, कलाम, शरतचन्द्र बोस, राजेन्द्र प्रसाद, पटेल, जयप्रकाश नारायण सहित कार्यकारिणी का गठन किया गया। पंजाब, मुम्बई, कलकत्ता और मद्रास में इसकी शाखाएं खोली गयीं। पुलिस की ज्यादती, शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध उसके द्वारा आवाज बुलन्द की गयी। इसके द्वारा ब्रिटिश भारत के अतिरिक्त रजवाड़ों में भी नागरिक अधिकारों की प्रगति हेतु प्रयास किया गया। 1937 ई0 के चुनावों में जिन राज्यों में कांग्रेस की सरकारें बनीं उनमें नागरिक अधिकारों के संरक्षण को बढ़ावा प्रदान किया गया।

भारत परिषद अधिनियम 1833 में यद्यपि व्यवस्था दी गयी थी कि धर्म, जाति, नस्ल और रंग के भेदभाव से परे सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जायेगा। ऐसा ही वादा महारानी की घोषणा 1858 में भी किया गया था परन्तु व्यवहार में उसे कभी उतारा नहीं जा सका और एक साम्राज्यवादी शासक और प्रशासित जनता का अंतर स्पष्टतः

परिलक्षित होता रहा। सेवाओं और अन्य मामलों में यूरोपियों को श्रेष्ठता प्रदान की जाती थी। भारतीय दण्ड संहिता 1861 तथा उसकी धारा में संशोधन 124ए व वर्नाकूलर प्रेस एक्ट आदि में यह अन्तर स्पष्टतः दिखता है। इन सबके विरोध में भारतीयों ने मानव अधिकारों की प्राप्ति एवं संरक्षण हेतु सतत् संघर्ष किया। एल्बर्ट बिल विवाद ने इन आन्दोलनों को नई दिशा दी। 1883 ई0 में लार्ड रिपन के समय में विधि सदस्य सी.पी. एल्बर्ट ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें यूरोपियों के मामलों में भारतीय जजों को भी समान अधिकार प्रदान किये गये। "इसके विरुद्ध एक तूफानी प्रचार शुरू हो गया, सभाएं की गयीं और विधेयक की बहुत जोरदार शब्दों में निन्दा की गई, चेतावनियाँ दी गयीं।"¹⁵ अंग्रेजों की इस प्रतिक्रियावादी नीति के विरोध में भारतीयों ने एल्बर्ट बिल के मूल प्रारूप तथा लार्ड रिपन के समर्थन में सारे देश में सघन आन्दोलन चलाया।¹⁶ केसरी ने इसे "बड़ी सीढ़ी वाला पहला कदम" बताया तो इण्डियन मिरर ने लिखा "आधुनिक इतिहास में पहली बार हिन्दू, मुसलमान, सिख, राजपूत, बंगाली, मद्रासी, मुम्बईया, पंजाबी और पूरबिया सब मिलकर सरकार की नीति का समर्थन करने के लिए एक वैधानिक मोर्चे में शामिल हो गये।"¹⁷ भारतीय परिषद के भारतीय सदस्यों ने बिल के मूल प्रारूप के लिए जोरदार आन्दोलन किया और विरोधियों की कटु आलोचना की। सैयद मीर अली ने महारानी की घोषणा 1858 को याद दिलाकर इसकी सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया। दरभंगा के महाराजा ने भारतीय जनता के लिए भी समान जूरी की माँग उठायी, परन्तु भारतीयों का यह प्रयास बेकार गया और बिल में संशोधन कर दिया गया जिसमें आवरण के अलावा सबकुछ समाप्त कर दिया गया। जूरी की बात मान ली गयी जिसमें आधे से ज्यादा यूरोपीय और अमेरिकन न्यायाधीश होंगे। इस विधेयक ने भारतीयों के लिए मानव अधिकारों की प्राप्ति के लिए उतना कार्य किया जितना वह अपने मूल रूप में पास होकर भी नहीं कर सकता था।¹⁸

विधायिका का उपयोग भारतीय सदस्यों ने अंग्रेजों की शोषणकारी नीतियों और अन्यायपूर्ण कानूनों के विरुद्ध किया। 19वीं सदी के अन्तिम दशक से भारतीयों ने विधायिका का उपयोग "नौकरशाही की कमियों और दोषों को निष्ठापूर्वक उजागर करने में लगभग प्रत्येक सरकारी नीति एवं प्रस्ताव की आलोचना और विरोध करने तथा बुनियादी आर्थिक मुद्दों पर बहस करने में....। उन्होंने सरकार की कार्यों और नीतियों की आलोचना इस कसौटी पर की कि उनके पीछे उनका इरादा क्या है, उनकी प्रणाली क्या है और इसके नतीजे क्या निकलेंगे।"¹⁹ नागरिक स्वतन्त्रता और मानव अधिकारों के विकास में इन प्रयासों का विशेष महत्व है। 1895 ई0 में जब भारतीय दण्ड विधान 1861 में संशोधन किया गया तो फिरोजशाह मेहता ने विधायिका में कड़ा प्रतिरोध जताया— "मैं किसी ऐसे कानून की कल्पना नहीं कर सकता जो इससे ज्यादा अधकचरा, प्रतिगामी, दुरुपयोग की संभावना वाला अथवा हताश करने वाला हो।" मेहता, चिटनिवीस और दरभंगा के राजा की माँग पर संशोधित विधेयक पर मतदान हुआ जिस पर सरकार ने बहुमत से बिल को संशोधित कर दिया। ऐसा प्रयास 1907 ई0 में बंगाल के विभाजन के विरोध में किया गया। रास बिहारी बोस ने कानून निर्मात्री सर्वोच्च परिषद के

समक्ष अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये। 1908-09 ई० में गोपाल कृष्ण गोखले ने 9 बंगाली युवकों जिन पर क्रान्तिकारी गतिविधियों में सम्मिलित होने का आरोप लगाया गया था परिषद में उनके मुकदमों के सम्बन्ध में नागरिक अधिकारों की रक्षा का प्रश्न उठाया।²⁰ 1909 ई० के एक्ट के उपरान्त बनी परिषद ने जब प्रवेशन ऑफ सेडीशयस एक्ट के विस्तार का प्रस्ताव सरकार ने रखा तो गोखले ने मानव अधिकारों का हवाला देते हुए इसका विरोध किया परन्तु बिल पास हो गया। 1913 ई० में एस.एन. बनर्जी ने केन्द्रीय विधान परिषद में कार्यकारिणी और न्यायिक शक्तियों के पृथीकरण का प्रस्ताव रखा। उन्होंने पुलिस के अत्यधिक अधिकारों के आधार पर 1910 ई० के एक्ट तथा 1915 ई० के अपराधिक कानूनों की भर्त्सना विधायिका में की।

1919 ई० का रौलेक्ट एक्ट मानव अधिकारों पर एक करारी चोट था, तो प्रतिक्रियास्वरूप उठा आन्दोलन मानव अधिकारों की रक्षा और विस्तार का एक प्रगतिशील कदम सिद्ध हुआ। 21 मार्च 1919 ई० को लागू इन कानूनों के विरुद्ध पूरे भारत में विरोध और निन्दा के स्वर उठ खड़े हुए।²¹ वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य शंकरन नायर ने इन कानूनों के प्रति अपनी असहमति में कहा कि "इसका अर्थ यह है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी मुक्तावस्था और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से वंचित किया जा सकता है तथा अखबारों की आजादी शासकीय कार्यपालिका की मर्जी पर निर्भर है।" श्रीनिवास शास्त्री ने इससे भले लोगों के विरुद्ध उपयोग के रूप में चेताया। अली मोहम्मद जिन्ना ने सरकार को "अब तक के सबसे भयंकर आन्दोलन" के प्रति आगाह किया। विधेयक पास हो जाने पर जिन्ना, मालवीय, तथा मजहरूल हक ने विधायिका से त्यागपत्र दे दिया। पूरे देश में विरोधस्वरूप सभाएं, पंजाब में आन्दोलन कुछ ज्यादा ही प्रचंड रूप धारण कर गया, सरकार ने पूरे भारत में मानव अधिकारों का हनन किया।

फरवरी 1921 ई० में श्रीनिवास शास्त्री द्वारा विधायिका में इन कठोर कानूनों की उपयोगिता की जाँच के लिए एक कमेटी के गठन का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में इन दमनात्मक कानूनों को समाप्त करने का प्रस्ताव था जिसे स्वीकार नहीं किया गया। मार्च 1921 ई० में शास्त्री द्वारा भारतीय दण्ड संहिता में सुधार हेतु विधायिका में फिर प्रस्ताव लाया गया जिसे विधायिका ने स्वीकार नहीं किया। 1925 ई० में सरदार पटेल ने विभिन्न दमनात्मक कानूनों को उठा लेने का प्रस्ताव रखा जिसे जिन्ना सहित अनेक स्वतन्त्र भारतीय विधायकों ने समर्थन देकर पारित कराया। 1926 ई० में मौलाना मोहम्मद रफी ने राजनैतिक कैदियों के अधिकारों के लिए विधायिका में प्रस्ताव रखा। पब्लिक सेप्टी बिल के विषय पर एम.आर. जयकर ने मानव अधिकारों के संरक्षण हेतु सरकार को घेरा। विट्टल भाई पटेल के निर्णायक मत की बदौलत प्रस्ताव पास हो गया परन्तु कुछ दिन बाद ही संशोधित नया बिल सरकार ने फिर रखा जिसको जी.डी. बिडला के विरोध के कारण सलैक्ट कमेटी को सौंपना पड़ा और बाद में इसे पारित कर दिया गया। इसके उपरान्त भगतसिंह और उनके साथियों ने मानव अधिकारों की रक्षा हेतु आमरण अनशन किया।

सन्दर्भ

1. नारंग, ए०एस०, ह्यूमन राइट्स इन इण्डिया, दिल्ली 2009, पृ०सं० 25
2. विपिनचन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, दिल्ली, 1992, पृ०सं० 77
3. देसाई ए०आर०, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दिल्ली, 2000, पृ०सं० 184
4. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 78
5. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 84
6. नारंग ए०एस०, पूर्वोक्त, पृ०सं० 17
7. नारंग ए०एस०, पूर्वोक्त, पृ०सं० 17
8. मजूमदार आर०एस०, हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया, वाल्यूम 03, कलकत्ता
9. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 475
10. गाँधीजी उद्धृत, विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 475
11. हरिजन, जनवरी 1922, असहयोग आन्दोलन जब अपने शीर्ष पर था तब गाँधीजी का यह व्यक्तव्य आया।
12. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 258
13. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 476
14. नेहरू उद्धृत, विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 478
15. ताराचन्द्र, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, दिल्ली, 2000, पृ०सं० 441
16. सिंह अयोध्या, भारत का मुक्ति संग्राम, दिल्ली, 1977, पृ०सं० 115
17. इण्डियन मिरर, 23 मई 1883
18. मजूमदार, आर०सी०, पूर्वोक्त, वाल्यूम 1, पृ०सं० 331
19. विपिनचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 89
20. नारंग, ए०एस० पूर्वोक्त, पृ०सं० 29
21. ताराचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ०सं० 498